समाज - सुधारक के रूप में कबीर

- डॉ. इशरत खान (प्रवक्ता) हिन्दी
गोवा विश्वविद्यालय (गोवा)

कबीर को एक प्रसिध्द धर्म एवं समाज सुधारक के रूप में भी देखा जाता है। मत मतांतर के झगडों और पाखण्डों को हटाकर जाति - पांति और ऊँच नीच के भेद को मिटाकर सबको एक राह पर लाने का प्रयत्न किया। समाज में फैला हुआ दु:ख, अज्ञान, भेद - भाव और पाखण्ड उन्हें असह्य था। अत: उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, बौध्द जैन अवधूत ज्ञानी जोगी, जिसमें भी दोष देखा है, किसी को उसके लिए क्षमा नहीं किया। सबकी निर्भीक और निपक्ष आलोचना की। इसीलिए कबीर ने सुख को, लौकिक साधनों के संग्रह का उपाय न बताकर, आचरण और भाव की शुध्दता, पवित्र विचार और निष्पक्षं व्यवहार तथा बाह्य आडम्बरों को छोडकर एक परमात्मा की आंतरिक भक्ति करने का उपदेश दिया।

कबीर का अविर्भाव ऐसे युग में हुआ, जबकि सारा राष्ट्र राजनतिक धार्मिक एंव सामाजिक दृष्टि से पतनान्मखी हो रहा था। उस समय सारा उत्तरीभारत राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३९८ ई. में तैमूर के आक्रमण में दिल्ली की नींव हिला दी थी और समस्त राजनीतिक मान्यताएं पंक के जल की भांति हो गई थी। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षा काल के बादलों की भांति उठे, घुमडे, सरजे और पानी - पानी होकर भूमि पर गिर पडे। उनके घुमडने और गरजने में ही सारी राजनीतिक धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ अस्त - व्यस्त हुई और उनके रूपों में परिवर्तन हुए। इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊंचाई तक खींच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही। कूटनीति, हिंसा, छल, त्रिशूल की भांति फैंके जाते थे और देश के वक्ष:स्थल में चुभोकर उसे नहला देते थे।

समाज की दशा राजनीति और धर्म से प्रभावित होती है। जबकि इस युग में दोनों विकृत हो रहे थे, तो समाज की दशा कैसे अविकृत रह सकती थी। शैव सिध्द एवं नाथ पंथियों ने परम्परागत वर्ण व्यवस्था के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया था, उसके स्थान पर उसे वह कोई रूप प्रदान नहीं कर पाये थे।

जाति और खानपान की संकीर्णता से संपूर्ण हिन्दुओं ने भले ही इस काल में अपने रक्त, आचार और धर्म की रक्षा कर ली हो, लेकिन संकुचित वृत्ति ने उनके अन्दर की ऊँच - नीच, छूत - अछूत और भेद भाव की भावना को प्रबल और दृढ कर दिया जिससे कि आपस में मनोमालिन्य और पारस्परिक घृणा - विद्वेष की भावना प्रबल हो उठी।

धर्म की भी व्यवस्था विकृत हो रही थी। मुसलमान आक्रमणकारियों की तलवारों ने हमारे आराध्य देवताओं की मर्तियों को चकनाचूर करके हमारी परम्परागत धारणाआ पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। भारत के प्राय: सभी पूर्ववर्ती धर्म सम्प्रदाय इस समय अपनी आभा खो बैठे थे। वैदिक, बौध्द और नाथ पंथी सभी सम्प्रदाय अपनी विकृतावस्था को पहुँच चुके थे।

केवल दक्षिण से भक्ति का एक नया स्रोत महाराष्ट्र से होता हुआ अवश्य हिन्दी प्रदेश की ओर प्रवाहित हो रहा था, जिसमें नवीन नवीन चेतना का प्रकाश दिखाई पड रहा था। कबीर का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ और उसने, उसमें अपना तेज मिलाकर उसे और भी अधिक उज्ज्वल रूप प्रदान कर दिया।

तत्कालीन युग में नारी की अवस्था तो और भी शोचनीय हो गई थी। बाल विवाह पर्दा प्रथा, एवं अशिक्षा के कारण भारतीय व्यक्तित्व शून्य हो गया था। उस युग का समाज किस प्रकार की कुप्रथाओं एवं दूषित रूढियों का दास हो

चुका था इसका परिचय कबीर काव्य की अनेक पंक्तियों से प्राप्त होता है। देखिए -

कोई लरका बेचई, लरकी बेचै कोइ।
सॉझा करे कबीर स्यों, हरि सैम बनज करेइ॥

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों की विकृत स्थिति ने कबीर को विद्रोह के लिए प्रेरित किया।

कबीर - वाणी चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो, समाज के चित्रों से वंचित नहीं है। कबीर ने अपने समय के समाज का यथातथ्य वर्णन किया हैं। उन्होंने समाज की कुरूपता पर कोई मुलम्मा चढाने का प्रयत्न नहीं किया और यह काम कबीर की प्रकृति के अनुरूप भी नहीं था। वे सत्य को घटाबढाकर या गढ थोपकर प्रस्तुत करने के न तो पक्ष में ही थे और न उनकी वाणी में इस प्रकार का कहीं संकेत ही मिलता है।

कबीर समाज से विलग होकर कुछ भी नहीं कह पाये है। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह समाज सापेक्ष है, जिसमें व्यक्ति सापेक्षता भी सन्निविष्ट है। कबीर ने अपने देश और काल को समक्ष रखकर व्यष्टि और समष्टि की गहराइयों में प्रवेश करके जो अनुभूतियाँ प्रस्तुत की हैं, उन्हीं में तो व्यक्ति और समाज का अन्तर 'बाहर' व्यक्त हुआ है। वे समाज की 'खबर लेते' समय व्यक्ति के अन्तर को भी टटोलते, खोजते रहे हैं। उन्होंने व्यक्ति और समाज के, हृदय और आचरण में समझौता न देखकर जो व्यंग प्रहार किये हैं, वे एक ओर समाज की दुर्बलताओं को व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर अनेक व्यक्तियों के दम्भ की छज्झियाँ उडाकर. कबीर ने समाज के परिशोध का ही प्रयत्न किया है।

कबीर की वाणी में, समाज को देखते समय, बडी भूल यह हो जाती है कि उनको इतिहास के भग्न सूत्रों के माध्यम से परखा जाता है। यदि कबीर आदि निर्व्दन्द संतों की उक्तियों को उनके सामने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो इतिहास को नया प्रकाश और नयी सम्पत्ति उपलब्ध हो सकती है। कबीर न इतिहासकार थे न ही इतिहास लिखने का प्रयत्न उनकी वाणी में कहीं मिलता है। उनके दष्टिकोण में, विशेषतः एक सुधारक की तीव्रता और तत्परता ही दृष्टिगोचर होती है।

कबीर का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था, उनकी निष्ठा अपने में अधिक थी, किन्तु कबीर के समय साहित्य का अध्येता ऐसे अनुमान की दिशा में कदापि नहीं भटक सकता। उन्होंने विश्व को आत्मा में देखा और आत्मा को विश्व में व्याप्त देखने का अमोघ प्रयत्न किया था। "बून्द समानी समद में, समद समाना बूँद मे" कहकर कबीर ने इस तिध्दान्त को पुष्ट किया है।

धर्म के मर्म को भूले हुए पाखण्डियों के प्रति कबीर का स्वाभिमान देखकर प्रायः सही अनुमान लगाया जाता है कि वे समाज से असन्तुष्ट होकर विरक्ति के मार्ग पर बडी तीव्रता ते चले आ रहे थे। वे समाज की दुर्व्यवस्था और अज्ञता से क्षुब्ध थे, क्योंकि इन दूषणों और दुर्बलताओं के कारण वह धर्म जो मनुष्यों को पास ही नहीं, समग्र सृष्टि को पास लाता है, कलंकित हो रहा था और समाज को एकता में बांधनेवाला सूत्र ध्वस्त हो रहा था। यदि वे 'व्यक्ति निष्ठ' या 'पलायनवादी' होते तो उनको समाज के कल्याण की चिन्ता कदापि न होती और वह दुःख के साथ यह न कहते -

कबीर कहता जात हू, सुशाता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ॥

कबीर ने हिन्दुओं मुसलमानों के बीच बढते हुए विष को बडी विकलता से देखा। कबीर ने किसी धर्म की कुरुपता और दुर्बलता की ओर से आँखें बन्द नहीं की किन्तु समाज के दो बडे टुकडे हिन्दू और मुसलमान उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुए।

हिन्दू धर्म में घुसे दम्भ और पाखण्ड की निन्दा कबीर ने बडे तीव्र शब्दों में की है। आडब्बरो और पाखण्डों का जैसा बोलबाला हिन्दू धर्म में था वैसा ही इसलाम धर्म में भी था। इस धार्मिक कृत्रिमता को कबीर ने बडे क्षोभ से देखकर कहाः-

कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिन्दू तुरक न जानैं भेऊ।
मन मुसले की जुगति न जाँनें, मति भूलै द्वैंदिन बखोनें॥

जनेऊ के पीछे कृत्रिम धार्मिकता थी किन्तु 'सुन्नत' के पीछे कृत्रिम धार्मिकता के साथ - साथ यौन भावना भी थी। खोखलापन उस समय भी विद्यमान था, और कबीर जैसे अनेक साधु लोग उससे परिचित थे।

वर्गभेद मुसलमानों में भी था किन्तु वह धर्म सम्बध्द नहीं था। उनमें भी पीर, मीर, काजी, मुल्ला और शेख आदि मतभेद थे।

एक पद में 'काजी आरै 'मुल्ला' से सम्बन्धित आशय

कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है। काजी -

काजी सो जो काया निचौरे। काया की अग्नि ब्रह्म पै जारै।
सुपनै बिन्दु न देई जरना। तिसु काजी कौं जरा न मरना॥ २

मुल्ला -

सो मुल्ला जो मन स्यो लरै।
गुरू उपदेश काल स्यो जुरै॥
काल पुरूष का मरदै मान।
तिस मुल्ला को सदा सलाम ॥ ३

कबीर के युग में हिन्दु और मुसलमानों में भयंकर मतभेद था, जिसका आधार तथा कथित धर्म था। इस धार्मिक संकीर्णता पर प्रहार करते हुए कबीरने कहा -

अल्लाह एकु मसीति बसतु है, अवर मुलकु किसकेरा।
हिन्दू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा॥ १

पंडित और मुल्लाओं के धार्मिक बाह्याचारों में कबीर को धर्म वेद की दुर्गन्ध आती थी। अतएव उन्होंने दोनों के चंगुल से मुक्ति पाते हुए कहा -

हमरा झगरा रहा न कोऊ,
पंडित मुल्ला छाडै दोऊ। २

जाति - पांति तथा भेद भाव के कारण समाज अज्ञान और अन्धविश्वास का शिकार बना हुआ था। शूद्रों और मलेच्छों की छाया से कट्टर हिन्दू घृणा करते थे। रूढिवादियों ने उच्चवर्णो को भी अन्धविश्वासी बना दिया था। पर्दे की प्रथा, बाल विवाह, बहुविवाह, गुलाम प्रथा, तथा अन्य अनेक सामाजिक कुरीतियों का बोलबाला था। साधारण जनता में शिक्षा की कमी थी। धर्म के नाम पर कुप्रथाएं प्रचलित थीं। कबीर ने समाज की इस कुरूप, दयनीय एवं वीभत्स दशा को बडी व्यग्रता से देखा। उन्होंने अपनी वाणी में एक - एक दुर्बलता की खबर ली और उसके निवारण के लिए अपनी सशक्त वाणी का उपयोग किया। इस कबीर को समाज से और समाज को कबीर से पृथक करके देखना असंगत होगा।